मैकॉले बनाम भारतीय ज्ञान–प्रणालियाँ और शिक्षा–व्यवस्था

अभय कुमार दुबे

इस अनुसन्धान में मैकॉले की शिक्षा सम्बन्धी टिप्पणी की दावेदारियों की जाँच की गई है। इसमें ऐतिहासिक तथ्यों के माध्यम से दिखाया गया है कि जब भारत की क्षेत्रीय और क्लासिक भाषाओं को ज्ञानोत्पादन के लिए अक्षम बताया जा रहा था, उस समय उनके दायरों में किस तरह की शिक्षा–प्रणालियाँ चल रही थीं और वे ज्ञानोत्पादन की कौन–सी परम्पराओं से सम्पन्न थीं। मैकॉले का दावा किस हद तक सही था? क्या उपनिवेशवादियों द्वारा पूर्व के ज्ञान को गुणवत्ताविहीन बता कर ख़ारिज करने के लिए पश्चिमी ज्ञान–प्रणाली द्वारा प्रदत्त प्रविधियों और बौद्धिक संहिताओं का इस्तेमाल किया गया था? इसी के साथ यह लेख प्राच्यवादियों (ओरिएंटलिस्ट्स) द्वारा अपनाई गई 'क़लम लगाने की रणनीति', आंग्लवादियों (एंग्लिसिस्ट्स) द्वारा प्रतिपादित 'छनन सिद्धान्त' और वर्नाकुलरिस्ट्स द्वारा भारतीय भाषाओं को प्रोत्साहन देने के आग्रह की समीक्षा करते हुए दिखाता है कि किस तरह ये तीनों एक ही लक्ष्य को प्राप्त करने की विभिन्न युक्तियाँ थीं, और यह लक्ष्य था भारत पर अँग्रेज़ी भाषा को थोपना।

इस अनुसन्धान का पहला भाग पत्रिका के चौथे अंक में प्रकाशित किया गया था और पाँचवें अंक में दूसरा भाग प्रकशित किया गया था। वर्तमान अंक में अनुसन्धान का अन्तिम भाग प्रकशित किया जा रहा है। इसमें छनन सिद्धान्त का अर्थ–निरूपण किया गया है। सं.

छनन सिद्धान्त : एक पेचीदा अर्थ–निरूपण

यहाँ स्पष्ट करने की ज़रूरत है कि प्राथमिक शिक्षा का यह ढाँचा उस पिरामिड के आधार की तरह कल्पित किया गया था, जिसके शीर्ष का निर्माण अँग्रेज़ी में उच्च–वर्गों को दी जाने वाली उच्च–शिक्षा के ज़रिए किया जा रहा था। इस पिरामिड की सैद्धान्तिक भूमि फ़िल्ट्रेशन थियरी (छनन सिद्धान्त) से बनी थी जो एक जटिल सिद्धान्त था। इसका मतलब था शीर्ष पर अँग्रेज़ी में शिक्षा प्राप्त करने वाला अत्यल्प संख्या वाला उच्च और उच्च–मध्यम वर्ग जिसे एक चलनी की तरह काम करते हुए पश्चिमी विद्या का प्रकाश अपने ज़रिए उन बहुसंख्य मध्य और निचले तबक़ों तक पहुँचाना था जिन्हें पिरामिड के आधार में देशी भाषाओं के माध्यम से शिक्षा मिलनी थी।

आज हमारे पास घटनाओं की पश्चात–दृष्टि है जिसके आधार पर कहा जा सकता है कि यह पिरामिड अँग्रेज़ी के अधिकतम नहीं बल्कि न्यूनतम वर्चस्व[62] की स्थापना की तरफ़ ले जाने वाला था। ग्रेट ब्रिटेन में अँग्रेज़ी ने अपना अधिकतम वर्चस्व स्थापित करने के लिए सेल्टिक परिधि (वेल्स, आयरलैंड और स्कॉटलैंड) की भाषाओं को समूल नष्ट कर दिया था। ब्रिटेन की तत्कालीन परिस्थितियों में, जहाँ अँग्रेज़ी पहले से बहुसंख्यक समाज की भाषा थी, निम्न

62. न्यूनतम वर्चस्व का यह सूत्रीकरण मैंने आलोक मुखर्जी (2009) से लिया है। दिस गिफ़्ट ऑफ़ इंग्लिश के पहले अध्याय 'सिचुएटिंग द स्टडी' में उन्होंने ग्राम्शी के हवाले से मिनिमल हेजेमनी या वर्चस्व के न्यूनतम रूप की चर्चा की है जो आर्थिक, राजनीतिक और बौद्धिक अभिजन की विचारधारात्मक एकता पर निर्भर करती है और अँग्रेज़ी के सन्दर्भ में सर्वाधिक उपयोगी है।

से उच्च वर्ग तक अँग्रेज़ी का प्रचलन करना सम्भव था, लेकिन भारत में नहीं। इसीलिए उपनिवेशवादी शुरू से ही फ़िल्ट्रेशन थियरी की वकालत कर रहे थे। ख़ास बात यह है कि अँग्रेज़ 'ज्ञान पर जिस ब्राह्मण - इज़ारेदारी' के विरोध में खड़े होने का स्वांग रच रहे थे, अँग्रेज़ी का यह न्यूनतम वर्चस्व अपने किरदार में वैसा ही था। फ़िल्ट्रेशन थियरी की यही आलोचना करते हुए ब्रायन होजसन ने भविष्यवाणी की थी कि इसके कारण ज्ञान की ब्राह्मणों से भी प्रबल इज़ारेदारी पैदा होगी।[63] ईस्ट इंडिया के डायरेक्टरों ने इसी साल 29 सितम्बर, 1830 को अपनी मद्रास सरकार को भेजे गए डिस्पैच (मद्रास के गवर्नर मुनरो द्वारा पेश जन-शिक्षा की योजना के प्रतिक्रियास्वरूप) में कहा था : 'किसी भी राष्ट्र की नैतिक और बौद्धिक दशा को उठाने में प्रभावी योगदान करने वाले शिक्षा सम्बन्धी सुधारों का ताल्लुक उच्च वर्गों की शिक्षा से है। इसके ज़रिए किसी समुदाय के विचारों और अनुभूतियों में कहीं बेहतर और लाभकारी परिवर्तन लाया जा सकता है, बनिस्बत इसके कि अधिसंख्य वर्ग को सीधे-सीधे शिक्षित किया जाए।'[64] पाँच साल बाद मैकॉले की शिक्षा सम्बन्धी टिप्पणी ने छनन सिद्धान्त को कारगर रूप दिया। इस सिलसिले में उनके विचारों को ठीक से समझने के लिए उन्हें एक निश्चित क्रम में पढ़ा जाना चाहिए।

थॉमस बैबिंग्टन मैकॉले
25 अक्तूबर 1800 – 28 दिसम्बर 1859

पहले मैकॉले ने स्पष्ट किया कि कम्पनी सरकार के पास सभी भारतवासियों को अँग्रेज़ी-शिक्षा देने लायक़ संसाधन नहीं हैं, और फिर उन्होंने छनन सिद्धान्त धरती पर उतारने की विधि बताई : 'हमें एक ऐसे वर्ग की रचना करने की भरसक कोशिश करनी चाहिए जो हम और हमारे करोड़ों शासितों के बीच दुभाषिए की भूमिका निभा सके, अर्थात व्यक्तियों का एक ऐसा वर्ग जो रक्त और त्वचा के रंग में तो भारतीय हो लेकिन रुचि, अभिमत, नैतिक मानदण्डों और प्रतिभा में अँग्रेज़ हो।' यह कहने के बाद मैकॉले ने अपना ध्यान उच्च-शिक्षा पर केन्द्रित किया : 'सभी लोग इस बात पर राज़ी लगते हैं कि उच्च-शिक्षा प्राप्त करने लायक़ संसाधनों से सम्पन्न वर्गों के लोगों को इस समय केवल ऐसी भाषाओं में शिक्षा दी जा सकती है जिनमें देशी भाषाएँ शामिल नहीं हैं।' ज़ाहिर है कि उनकी निगाह में संस्कृत, अरबी और फ़ारसी जैसी प्राच्य भाषाएँ इस योग्य नहीं थीं। नतीजतन अन्त में दुभाषिए वर्ग को शिक्षित करने का माध्यम केवल अँग्रेज़ी रह जाती थी। इसीलिए मैकॉले की उस सिफ़ारिश को बेंटिक ने पूरी तरह से मान लिया कि सरकारी धन केवल अँग्रेज़ी की शिक्षा पर ही ख़र्च किया जाएगा। इस तरह छनन सिद्धान्त का पहला व्यावहारिक उसूल यह बना कि उच्च-शिक्षा अँग्रेज़ी में दी जाएगी, केवल उच्च और उच्च-मध्यम वर्ग को दी जाएगी और शिक्षा का बजट उसी के लिए होगा। उपनिवेशवादियों ने अँग्रेज़ी शिक्षा से किस तरह तत्कालीन कमज़ोर जातियों को योजनाबद्ध ढंग से वंचित रखा, इसका तथ्यात्मक विवरण इस अध्याय के अगले खण्ड में दिया गया है।

63. देखें, जॉन डी विंडहॉज़ेन (1964), वही : 260. लेखक ने यहाँ होजसन की जिस रचना का हवाला दिया है वह *मिसलेनियस एसेज़ रिलेटिंग टू इंडियन सब्जेक्ट्स* शीर्षक से लंदन में 1880 में प्रकाशित हुई थी।

64. फ़्रायकेनबर्ग (1983) में उद्धृत।

छनन सिद्धान्त के इस पहले उसूल का कुछ-न-कुछ विपरीत असर तो देशी भाषाओं में दी जाने वाली शिक्षा पर पड़ना लाज़िमी था। उससे भारतीय ही नहीं, मिशनरियों द्वारा चलाए गए भारतीय भाषा के स्कूल भी प्रभावित हुए। ध्यान रहे कि श्रीरामपुर के मिशनरियों द्वारा खोले गए इन स्कूलों का मक़सद भारतीय भाषाओं के ज़रिए ईसाई धर्मप्रचार था, जबकि आंग्लवादी अँग्रेज़ी के ज़रिए बाइबिल पढ़ाने और युरोपीय ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा देना चाहते थे। बंगाल के इन स्कूलों में बेंटिक के आदेश से पहले 8,544 बच्चे शिक्षा प्राप्त कर रहे थे जो तेज़ी से घटकर पाँच हज़ार के आसपास रह गए। इसका कारण यह था कि कलकत्ता से शुरू हुई अँग्रेज़ीपरस्ती के प्रभाव के कारण स्थानीय अभिजनों को यह तर्क अधिक लुभावना और उपयोगी लगने लगा कि अँग्रेज़ी ही ज्ञान की सच्ची वाहक है, और देशी भाषाओं की तुलना बन्दरों की बड़बड़ाहट से ही की जा सकती है।

> छनन सिद्धान्त के इस पहले उसूल का कुछ-न-कुछ विपरीत असर तो देशी भाषाओं में दी जाने वाली शिक्षा पर पड़ना लाज़िमी था। उससे भारतीय ही नहीं, मिशनरियों द्वारा चलाए गए भारतीय भाषा के स्कूल भी प्रभावित हुए। ध्यान रहे कि श्रीरामपुर के मिशनरियों द्वारा खोले गए इन स्कूलों का मक़सद भारतीय भाषाओं के ज़रिए ईसाई धर्मप्रचार था।

1835 के बाद मिशनरियों के बीच भी देशी भाषाओं के प्रति उत्साह कम हो गया। इतिहास बताता है कि बेंटिक के आदेश के बाद देशी भाषाओं के लिए किया जाने वाला मिशनरी उद्यम तक़रीबन ठप्प हो गया। सरकार ज़िला स्तर पर स्कूल क़ायम करने और प्रान्तीय स्तर पर कॉलेज खोलने पर ध्यान देती रही ताकि उच्च-मध्यम और मध्यम वर्ग को अँग्रेज़ी पढ़ाई जा सके।[65] प्राच्य शिक्षा देने वाले स्कूलों में पढ़ने वाले छात्रों को वजीफ़े देने की स्कीम ख़त्म कर दी गई और प्राच्य-विद्या की पुस्तकें छापने के कार्यक्रम रोक दिए गए। एडम की रपट में भी बार-बार इस बात का ज़िक्र आता है कि 1835 के बाद सरकार अँग्रेज़ी की शिक्षा पर इस क़दर एकतरफ़ा ज़ोर दे रही है कि देशी भाषाओं में शिक्षा का हाशियाकरण होता जा रहा है।

दरअसल, शुरू के दौर में छनन सिद्धान्त के इस आर्थिक पहलू का अनुपालन करने में औपनिवेशिक सरकार बहुत कठोर थी। उसने न एडम की बात मानी, और न ही मुनरो के प्रस्ताव की कोई परवाह की, क्योंकि ये दोनों ही सुझाव सरकारी कोष को देशी भाषाओं की शिक्षा पर ख़र्च करने की वकालत कर रहे थे। फ़्रायकेनबर्ग के मुताबिक़ 1835 में जीसीपीआई ने मुनरो की योजना को अधिकारिक रूप से ठुकरा दिया। उसके दबाव में न केवल मद्रास में मुनरो द्वारा गठित कमेटी ऑफ़ पब्लिक इंस्ट्रक्शन को भंग कर दिया गया, बल्कि उसके आधार पर उस समय तक खोले गए कलक्ट्रेट और तहसील स्तर के स्कूलों को बन्द करने की माँग भी कर दी गई।

इस विवरण से लगता है कि छनन सिद्धान्त का मतलब था देशी भाषाओं की शिक्षा का सर्वनाश। लेकिन असल में ऐसा नहीं था। इसी जगह हमें इस सिद्धान्त का दूसरा उसूल पढ़ने की कोशिश करनी चाहिए। जीसीपीआई के अध्यक्ष के तौर पर मैकॉले ने 1938 तक काम किया। भारत छोड़ने से पहले उन्होंने छनन सिद्धान्त की व्यावहारिकता पर बार-बार ज़ोर दिया, 'इस समय हमारा इरादा देश के निचले वर्गों को सीधे-सीधे शिक्षित करना नहीं है। इस तरह का लक्ष्य पूरा करने लायक़ संसाधन हमारे पास नहीं हैं। हमारा उद्देश्य तो आज के बाद से एक ऐसा शिक्षित वर्ग तैयार करना है जो हमारी आशा के अनुसार अपने देशवासियों के बीच उस ज्ञान के कुछ अंश का प्रसार कर देगा जो हम

65. देखें, *फ़्रेंड्स ऑफ़ इंडिया,* कलकत्ता, 28 मार्च, 1839। यह बैप्टिस्ट मिशनरियों का प्रकाशन था।

उसे प्रदान करेंगे। ... अँग्रेज़ी में शिक्षित करने के किसी भी आदेश में, जहाँ भी ज़रूरत पड़े, अनिवार्यत: भारतीय भाषाओं में भी शिक्षा देने का आदेश निहित है।'[66]

ट्रेवेलियन ने इसी बात को अपनी पुस्तक में और विस्तार से समझाया कि युरोपीय ज्ञान का लाभ पहले अमीरों, पढ़े-लिखों और व्यापार करने वालों को दिया जाएगा। अँग्रेज़ी-शिक्षा के ज़रिए अध्यापकों का एक वर्ग प्रशिक्षित किया जाएगा। भारतीयों को पहले सीखना होगा। फिर वे सिखाने की स्थिति में आ पाएँगे। यह पहला चरण होगा। जब ऐसे लोगों का वर्ग तैयार हो जाएगा तो वह युरोपीय ज्ञान एशिया की अपनी भाषाओं में आम लोगों के बीच प्रसारित करेगा।[67] जीसीपीआई के भारतीय सदस्य प्रसन्न कुमार ठाकुर ने एंग्लो-बंगाली स्कूलों की योजना पेश करते हुए ऐसे प्रशिक्षित लोगों को लेखकों और अध्यापकों के संयुक्त दायित्व के वाहक के तौर पर देखा जो 'भारत की राष्ट्रीय शिक्षा' की स्थाई प्रणाली की स्थापना की सुनिश्चित शुरुआत करेंगे।[68] क्या मैकॉले, ट्रेवेलियन और ठाकुर के वक्तव्यों से पहली नज़र में ऐसा नहीं लगता कि उपनिवेशवादियों द्वारा कल्पित किया जा रहा अँग्रेज़ी शिक्षित उच्च और उच्च-मध्यम वर्ग का द्विभाषी या बहुभाषी होना ज़रूरी था, क्योंकि तभी वह युरोपीय ज्ञान का भारतीय भाषाओं में नीचे तक प्रसार कर सकता था? इस तरह छनन सिद्धान्त का दूसरा व्यावहारिक उसूल इस तरह सामने आया कि बेंटिक की शिक्षा-नीति देशी भाषाओं में शिक्षा के विनाश को प्रोत्साहित करने के बजाय उसमें 'अहस्तक्षेप' की पक्षधर है। सरकार इस तरह की शिक्षा पर कुछ ख़र्च नहीं करेगी और न ही इन स्कूलों को बन्द करने की कार्रवाई करेगी। अगर स्थानीय और निजी सहयोग से ये स्कूल चल सकते हैं तो चलते रहें। इस तरह शिक्षा के इस पिरामिड के शीर्ष का ध्यान सरकार रखने वाली थी, और उसके आधार का ध्यान रखने की ज़िम्मेदारी भारतीय समाज पर छोड़ दी गई थी। अँग्रेज़ी का न्यूनतम वर्चस्व शीर्ष पर पनपाया जाएगा, जो धीरे-धीरे करके रिसते हुए पश्चिमी विद्या के प्रसार की शक्ल में नीचे तक पहुँचेगा।

सम्बन्धित समाज-वैज्ञानिक साहित्य में अकसर यह निष्कर्ष देखने को मिलता है कि 1835 से 1845 के बीच पहले दस साल तक आजमाए जाने के बाद छनन सिद्धान्त नाकाम हो गया, और इस नाकामी का एहसास होने के बाद अँग्रेज़ों को मजबूरी में भारतीय भाषाओं में शिक्षा को तरह-तरह की रियायतें देनी पड़ीं। नाकामी और मजबूरी की यह कहानी नाना प्रकार के उद्धरणों का इस्तेमाल करके कही जाती है। मसलन, कहा जाता है कि अँग्रेज़ी के पैरोकारों को भी लगने लगा था कि उनकी शिक्षा का प्रसार बहुत धीमी गति से हो रहा है। इंग्लैंड में एक दलील यह भी दी जा रही थी कि केवल नौकरी करने के लिए अँग्रेज़ी पढ़ने वालों से उन श्रेष्ठ नैतिक मूल्यों का अनुशीलन करने की उम्मीद कैसे की जा सकती है जो पश्चिमी विद्या और समाज की देन हैं। हो सकता है कि इस तरह की बातें की जा रही हों और अख़बारों में ऐसे तर्क दिए जा

कहा जाता है कि अँग्रेज़ी के पैरोकारों को भी लगने लगा था कि उनकी शिक्षा का प्रसार बहुत धीमी गति से हो रहा है। इंग्लैंड में एक दलील यह भी दी जा रही थी कि केवल नौकरी करने के लिए अँग्रेज़ी पढ़ने वालों से उन श्रेष्ठ नैतिक मूल्यों का अनुशीलन करने की उम्मीद कैसे की जा सकती है जो पश्चिमी विद्या और समाज की देन हैं।

66. देखें, जॉन डी विंडहॉज़ेन (1964), वही।

67. देखें, चार्ल्स ट्रेवेलियन (1838), वही : 23, 48।

68. देखें, शोध गंगा, जीसीपीआई, बंगाल, 1839-1840।

रहे हों– लेकिन यह मानना कठिन लगता है कि उपनिवेशवादी हुक्मरानों और रणनीतिकारों ने कभी वास्तव में ऐसी उम्मीद की होगी कि अँग्रेज़ी माध्यम की शिक्षा भारत में दिन-दूनी रात चौगुनी गति से फैलेगी। उन्हें निश्चित रूप से पता होगा कि अँग्रेज़ी की चौतरफ़ा उभरती हुई माँग का जो प्रोपेगंडा वे कर रहे हैं उसकी असलियत क्या है। अँग्रेज़ी के पैरोकारों को इस तरह के प्रोपेगंडे पर अठारहवीं सदी से ही महारत हासिल थी और इसे प्रोत्साहित करने के लिए पीएचडी की उपाधि तक दे दी जाती थी। इस सिलसिले में कुछ तथ्यात्मक तर्क भी दिए जाते हैं।

मसलन, बेंटिक के जाते ही 1835 में मेटकॉफ़ के ज़माने में वर्नाकुलर प्रेस एक्ट पारित हुआ जिससे देशी भाषाओं को उछाल मिला। इस तथ्य का भी उल्लेख किया जाता है कि कम्पनी सरकार देशी भाषाओं में कुछ कोर्स की किताबें सरकारी ख़र्चे पर तैयार करने के लिए राज़ी हो गई थी। साथ ही लॉर्ड हार्डिंग्ज़ के 1844 के उस फैसले की चर्चा भी होती है कि उन्होंने 101 वर्नाकुलर स्कूल खोलने का फ़ैसला लिया था।[69] लेकिन, इनमें से कोई भी तथ्य नज़दीकी जाँच-पड़ताल करने पर यह साबित नहीं कर पाता कि कम्पनी सरकार ने कभी भी बेंटिक की शिक्षा-नीति को किसी भी पहलू से कभी हल्का करने की कोशिश की थी। दरअसल, नीचे दिए गए विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि जिसे अँग्रेज़ों का 'कम्प्रोमाइज़' बताया गया है,[70] वह दरअसल छनन सिद्धान्त की अन्तर्निहित ज़रूरत थी जिसे राजनीतिक आवश्यकताओं के तहत धीरे-धीरे लेकिन निश्चित रूप से अमल में लाया गया।

> यह मानना कठिन लगता है कि उपनिवेशवादी हुक्मरानों और रणनीतिकारों ने कभी वास्तव में ऐसी उम्मीद की होगी कि अँग्रेज़ी माध्यम की शिक्षा भारत में दिन-दूनी रात चौगुनी गति से फैलेगी। उन्हें निश्चित रूप से पता होगा कि अँग्रेज़ी की चौतरफ़ा उभरती हुई माँग का जो प्रोपेगंडा वे कर रहे हैं उसकी असलियत क्या है।

विलियम बेंटिक 1935 में अपना आदेश पारित करके रिटायर हो गए। मैकॉले 1938 तक जीसीपीआई के अध्यक्ष बने रहे और उसके बाद इंग्लैंड लौटे। ट्रेवेलियन ने 1940 में भारत छोड़ा। बेंटिक के जाने के बाद अँग्रेज़ों के सामने चुनौती यह आई कि अँग्रेज़ी को शिक्षा का एकमात्र माध्यम बनाने की नीति को ज़मीन पर उतारने के लिए व्यावहारिक नीतियों का सूत्रीकरण कैसे किया जाए। उन्होंने इस चुनौती का सामना कैसे किया– यह देखना इस लिहाज़ से महत्त्वपूर्ण है कि इस अवधि में नाना प्रकार के अन्तर्विरोधों के बीच अँग्रेज़ी का न्यूनतम वर्चस्व किस प्रक्रिया के तहत क्रमशः स्थापित किया गया। अन्तर्विरोधों का पहला दौर 1935 से 1939 तक यानी चार साल चला। भारत में बेंटिक की नीति का सरकार के भीतर और बाहर, दोनों जगह प्रबल विरोध शुरू हो गया जो जल्दी ठण्डा होने का नाम नहीं ले रहा था। उधर 'होम गवर्नमेंट' यानी लंदन में बैठे कम्पनी के सरबराहों और ब्रिटिश नीति-निर्माताओं ने न केवल बेंटिक के आदेश का तत्परता के साथ स्वागत करने से इन्कार कर दिया, बल्कि अगले आदेश तक उसपर अमल रोक दिया गया।[71]

कहा जाता है कि लंदन के ईस्ट इंडिया कम्पनी के दफ़्तर में कार्यरत उपयोगितावादी दार्शनिक जॉन स्टुअर्ट मिल ने बेंटिक की नीति पर अमल में बाधा डाली, क्योंकि वे भारतीय भाषाओं और विद्या के प्रति तिरस्कारपूर्ण रवैया नहीं रखते थे।

जॉर्ज डी बियर्स के मुताबिक़ जे एस मिल न तो एडमंड बर्क की तरह अनुदारतावादी

69. हार्डिंग द्वारा खुलवाए गए 101 वर्नाकुलर स्कूल किस तरह से विफल होने के लिए अभिशप्त थे, इसके विस्तृत ब्योरे के लिए देखें, *शोध गंगा* का अध्याय 12।

70. ज़ैस्टौपिल और मार्टिन मोइर (1999) ने ऑकलैंड की शिक्षा सम्बन्धी टिप्पणी को 'ग्रेट कम्प्रोमाइज़' की संज्ञा दी है।

दर्शन के पैरोकार थे, और न ही अपने उदारतावादी और उपयोगितावादी पिता जेम्स मिल की तरह भारतीय भाषाओं और विद्याओं के प्रति तिरस्कारपूर्ण रवैया रखते थे। बजाय इसके उनकी शख़्सियत और बौद्धिकता में अनुदारतावादी दर्शन, उदारतावादी दर्शन और उपयोगितावाद की श्रेष्ठ परम्पराओं का अनूठा सम्मिश्रण था। बियर्स ने उनकी प्रशंसा करते हुए यह भी कहा है कि भारतीय समाज और शासन के बारे में वे प्रगति के युग में ब्रिटिश उदारतावाद के सर्वाधिक अग्रगामी स्वर थे।[72] मिल के भारत सम्बन्धी रवैए के बारे में कही गई इन आकर्षक और भावभीनी बातों की समीक्षा उस मुक़ाम पर की जाएगी जहाँ ब्रिटिश उदारतावाद की भूमिका की चर्चा होगी। यहाँ सिर्फ़ इतना कहना पर्याप्त है कि मिल का नज़रिया प्राच्यवादियों द्वारा प्रवर्तित छनन सिद्धान्त के समर्थन के अलावा कुछ नहीं था। उन्होंने 1836 में मैकॉले की टिप्पणी के जवाब में एक डिस्पैच तैयार किया।

इसे दो हिस्सों में पढ़ा जा सकता है। पहला, वे मैकॉले की ही तरह पूरी तरह इस पक्ष में थे कि भारतवासियों के एक छोटे-से हिस्से को ही अँग्रेज़ी पढ़ाई जानी चाहिए। उनके लिहाज़ से यह 'शिक्षकों को शिक्षित करना' था, यानी ऐसे लोगों का एक छोटा वर्ग तैयार करना था जो 'युरोपीय साहित्य' और उसपर आधारित 'बेहतर विचारों और अनुभूतियों' से परिचित हो ताकि उसे अपने देशवासियों के बीच इस ज्ञान के प्रसार के पेशे में लगाया जा सके। फ़र्क़ केवल इतना था कि जे एस मिल ने स्थानीय भाषाओं को जन-शिक्षा के लिए उपयोगी मान लिया था। यह एक दिलचस्प अन्तर्विरोध है कि जे एस मिल मैकॉले से इस बात में भी असहमत नहीं थे कि भारतीय भाषाएँ रोज़मर्रा के कामकाज के अलावा किसी अन्य उपयोग की नहीं हैं। शायद इसीलिए उन्होंने संस्कृत, अरबी और फ़ारसी के लिए भी कुछ सरकारी धन ख़र्च करने की सिफ़ारिश की थी। यह अलग बात है कि मिल का यह डिस्पैच कभी नहीं भेजा गया। कोर्ट ऑफ़ डायरेक्टर्स के चेयरमैन हॉबहाउस ने उसे नामंज़ूर कर दिया।[73]

> भारत में बेंटिक की नीति का सरकार के भीतर और बाहर, दोनों जगह प्रबल विरोध शुरू हो गया जो जल्दी ठण्डा होने का नाम नहीं ले रहा था। उधर 'होम गवर्नमेंट' यानी लंदन में बैठे कम्पनी के सरबराहों और ब्रिटिश नीति-निर्माताओं ने न केवल बेंटिक के आदेश का तत्परता के साथ स्वागत करने से इन्कार कर दिया, बल्कि अगले आदेश तक उसपर अमल रोक दिया गया।

वस्तुत: मैकॉले-बेंटिक की शिक्षा नीति पर तुरन्त अमल न हो पाने के कारण दूसरे थे। बेंटिक के जाते ही उनके उत्तराधिकारियों (पहले चार्ल्स मेटकॉफ़ और फिर लॉर्ड ऑकलैंड) को दो ऐसी विकट समस्याओं का सामना करना पड़ा जो फ़ौरी तौर पर शिक्षा और भाषा के मसले के मुक़ाबले कहीं ज़्यादा संगीन थीं। पहले स्वयं अँग्रेज़ों की लुटेरू नीतियों के कारण बंगाल भीषण अकाल की चपेट में आ गया, और फिर अफ़गानों के साथ युद्ध शुरू हो गया। ऐसे में अँग्रेज़, हिन्दुओं और मुसलमानों को नाराज़ करने वाला कोई भी क़दम उठाने से परहेज़ करने के बारे में सोचने लगे। अगर इन दोनों समस्याओं से निबटे बिना शिक्षा-नीति में अचानक रैडिकल परिवर्तन कर

71. इसका मतलब यह कतई नहीं था कि लंदन में कम्पनी के संचालक अँग्रेजी-शिक्षा थोपने के पक्ष में नहीं थे या इस मामले में कोई मुरव्वत बरतना चाहते थे। परसीवाल स्पियर (1938) ने अपने पूर्वोद्धृत लेख 'बेंटिक ऐंड एजुकेशन' में दिखाया है कि 1830 का दशक आते-आते कम्पनी के सरबराह भारतीय विद्या और संस्कृति के प्रति अपना आदरभाव खो चुके थे। उनपर उपयोगितावाद का गाढ़ा रंग चढ़ चुका था, जिसके तहत उन्हें लगने लगा था कि भारतीय शास्त्रों की शिक्षा और भारतीय भाषाओं का अध्ययन अनुपयोगी है। इस विचार के तहत केवल अँग्रेज़ी शिक्षा और उसमें दिया गया ज्ञान ही उपयोगिता की कसौटी पर खरा उतरता था।

72. जॉर्ज डी बियर्स (1961), *ब्रिटिश एटीट्यूड टुवइर्स इंडिया 1784-1885,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, लंदन : 277-278।

73. जे एस मिल के दस्तावेज़ के लिए देखें, जैस्टौपिल और मार्टिन मोइर (सं.), वही : 225-243।

दिया जाता तो ये दोनों अन्तर्विरोध मिल कर एक बड़ी मुश्किल बन सकते थे, और लंदन से स्पष्ट और त्वरित समर्थन न मिलने के कारण भारत में होने वाला विरोध बेंटिक की नीति में रैडिकल संशोधन करने का दबाव बना सकता था। इसी अन्देशे से बचने के लिए लंदन स्थित डायरेक्टर्स और भारत में लॉर्ड ऑकलैंड इन्तज़ार करने पर एकमत हो गए। अगर ज़रा भी मौक़ा होता तो ऑकलैंड मैकॉले-बेंटिक की शिक्षा-नीति पर तत्परता से अमल करते। अँग्रेज़ी-शिक्षा को ही शिक्षा का पर्याय मानने वाला ऑकलैंड का यह कथन इतिहास में दर्ज है : 'अँग्रेज़ी और अँग्रेज़ी-शिक्षा के निषेध का अर्थ है शिक्षा का निषेध।'[74] उन दिनों की ख़तो-किताबत का अध्ययन करने वाले के ए बैलहैशेट ने कई उद्धरणों के ज़रिए कम्पनी के भारतीय और लंदन स्थित निज़ाम की इस एकता को दिखाया है। ऑकलैंड बार-बार कोर्ट ऑफ़ डायरेक्टर्स के चेयरमैन हॉबहाउस (जिन्होंने चार्ल्स ग्रांट की जगह ली थी) से अपील करते थे कि वे भारत में बहस को भड़काने वाला और ख़ासतौर से मुसलमानों के बीच धीरे-धीरे ठण्डे पड़ते जा रहे असन्तोष को फिर से सुलगाने वाला कोई डिस्पैच न भेजें।

> अगर ज़रा भी मौक़ा होता तो ऑकलैंड मैकॉले-बेंटिक की शिक्षा-नीति पर तत्परता से अमल करते। अँग्रेज़ी-शिक्षा को ही शिक्षा का पर्याय मानने वाला ऑकलैंड का यह कथन इतिहास में दर्ज है : 'अँग्रेज़ी और अँग्रेज़ी-शिक्षा के निषेध का अर्थ है शिक्षा का निषेध।'

दरअसल, ऐसे किसी भी डिस्पैच को गुप्त रखना मुश्किल था, क्योंकि सरकार के भीतर प्रिंसेप जैसे अफ़सर मौजूद थे जिन्होंने प्राच्यवादियों की तरफ़ से मैकॉले और बेंटिक के मुक़ाबले जमकर बहस की थी। ऑकलैंड यह भी नहीं चाहते थे कि परिस्थिति की विषमता के चलते कहीं हॉबहाउस की तरफ़ से बेंटिक की शिक्षा-नीति को कमज़ोर करने वाला कोई निर्देश न भेज दिया जाए।[75] आख़िरकार वे भी तो अँग्रेज़ी-शिक्षा के पक्के समर्थक थे। जब उन्हें भारत की गवर्नरी मिली थी, तो मैकॉले ने लंदन में ख़ुशी मनाई थी कि भारत को एक ऐसा गवर्नर-जनरल दिया जा रहा है जिससे उनके विचार मिलते हैं।[76]

24 नवम्बर, 1839 को ऑकलैंड ने अपनी शिक्षा सम्बन्धी टिप्पणी लिखी। जैसी कि उनसे उम्मीद थी, इस टिप्पणी ने अँग्रेज़ी-शिक्षा के विरोध में होने वाली किसी भी गोलबन्दी, किसी भी प्राच्यवादी तर्क और किसी भी वर्नाकुलरिस्ट्स दावेदारी का अन्तिम रूप से ख़ात्मा कर दिया।[77] ऑकलैंड की टिप्पणी का आधा हिस्सा वर्नाकुलरिस्ट्स द्वारा की गई बेंटिक की शिक्षा-नीति की आलोचना के बारे में है। इससे यह तो पता चलता है कि देशी भाषाओं में शिक्षा का समर्थन करने वाले सरकार के बाहर-भीतर इतने ताक़तवर थे कि उन्हें नज़रअन्दाज़ नहीं किया जा सकता था। लेकिन पहले से स्थापित आंग्लवादी तर्कों का इस्तेमाल करके उनकी दलीलों को ठुकराने में ऑकलैंड को कोई संकोच नहीं हुआ। इससे पहले 1837 में अदालतों की भाषा के तौर पर फ़ारसी को हटा कर अँग्रेज़ी को उसकी जगह स्थापित कर ही दिया गया था। हार्डिंग

74. इस उद्धरण के लिए देखें, वरुण बख़्शी (2017), 'द इमरजेंस ऐंड ग्रोथ ऑफ़ कोलोनियल लेंग्वेज पॉलिसी ऐंड इट्स क्लैश विद द लिंगुइस्टिक एजेंडा ऑफ़ द नैशनल मूवमेंट', एम श्रीधर और सुनीता मिश्रा (सं.), *लेंग्वेज पॉलिसी ऐंड एजुकेशन इन इंडिया : डॉक्युमेंट्स, कांटेक्स्ट्स ऐंड डिबेट्स*, रुट्लेज, लंदन और न्यूयॉर्क : 26-40।

75. देखें, के ए बैलहैशेट (1951), 'द होम गवर्नमेंट ऐंड बेंटिक्ज़ एजुकेशन पॉलिसी', *द कैम्ब्रिज हिस्टॉरिकल जरनल*, खण्ड 10, अंक 2 : 224-229।

76. देखें, जॉन डी विंडहॉज़ेन (1964), वही।

77. इस टिप्पणी के मूल पाठ के लिए देखें, ज़ैस्टौपिल और मार्टिन मोइर (1999) : 257-259।

ने 1844 में ही घोषणा की कि अँग्रेज़ी-शिक्षा प्राप्त करने वाले भारतवासियों को सभी तरह की सरकारी नियुक्तियों में प्राथमिकता मिलेगी। इस तरह अँग्रेज़ी शिक्षा औपचारिक रूप से सरकारी नौकरियों का पासपोर्ट बन गई। इसका असर यह हुआ कि बहुतेरे माता-पिता अपने बच्चों को देशी भाषाओं के स्कूलों से निकाल कर अँग्रेज़ी स्कूलों में दाख़िल करने लगे, और लोकोपकार के लिए दान देने में सक्षम लोगों ने भी देशी भाषाओं वाले स्कूलों की मदद से हाथ खींचना शुरू कर दिया। न जाने कितने ऐसे स्कूल बन्द हो गए।

इनमें हिन्दू कॉलेज की पाठशाला भी थी जिसे शुरू ही इसलिए किया गया था कि अँग्रेज़ी की तरफ़ झुक रहे छात्रों को फिर से बांग्ला भाषा पढ़ने के लिए प्रोत्साहित किया जा सके। हार्डिंग की इस घोषणा ने जाति-प्रथा के आधार पर रचित भारतीय समाज में एक नई जाति की स्थापना की। यह थी अँग्रेज़ी जानने वालों की जाति जो संख्याबल में बहुत कम, लेकिन अपने रंग-रुतबे में बहुत ताक़तवर थी। अँग्रेज़ी न जानने वाले विशाल बहुसंख्यक समाज का प्रारब्ध इस अति-अल्पसंख्यक जाति के हाथों में जाने वाला था।

इसी के साथ अँग्रेज़ी भाषा और पश्चिमी विद्या की प्रधानता वाली पिरामिडनुमा शिक्षा-प्रणाली की पूर्णरूपेणु स्थापना की ज़मीन साफ़ हो गई। 1853 में जब एक बार फिर ब्रिटिश संसद के सामने कम्पनी-चार्टर के नवीकरण का प्रश्न आया तो भारत के शिक्षा सम्बन्धी परिदृश्य की ताज़ा जानकारी के लिए एक कमेटी गठित की गई। इसी कमेटी की सिफ़ारिशों को ही 1854 के वुड्स डिस्पैच के नाम से जाना जाता है, क्योंकि उस समय कम्पनी के बोर्ड ऑफ़ डायरेक्टर्स की कमान चार्ल्स वुड के हाथों में थी।[78] वुड्स डिस्पैच ने अँग्रेज़ी शिक्षा का समर्थन करने वाली मैकॉले की साम्राज्यिक लफ़्फ़ाज़ी से पैदा होने वाली कड़वाहट कम करने का प्रयास किया। ब्रिटिश साम्राज्यवाद को भारत के लिए घुमा-फिरा कर कल्याणकारी मानने वाले इतिहासकार वुड्स डिस्पैच को भारतीय भाषाओं में शिक्षा का समर्थक करार देकर भ्रम पैदा करने की कोशिश करते हैं।

लेकिन, असलियत कुछ और थी। चूँकि बंगाल के सन्दर्भ में यह डिस्पैच मानता था कि शीर्ष पर स्थित अँग्रेज़ी पढ़े-लिखे छोटे-से वर्ग को पश्चिमी विद्या में शिक्षित करने पर ज़ोर के कारण निचले तबक़े पश्चिमी विद्या की शिक्षा से वंचित हो गए हैं, इसलिए उसने भारतीय भाषाओं के ज़रिए उन्हें इस विद्या में शिक्षित करने की सिफ़ारिश की थी। इस तरह वुड्स डिस्पैच ने अन्तिम रूप से तय कर दिया कि शिक्षा का उद्‌देश्य भारतवासियों को पश्चिमी विद्या में शिक्षित करना ही है, चाहे वह शिक्षा अँग्रेज़ी में दी जाए या भारतीय भाषाओं में। जहाँ तक अँग्रेज़ी का सवाल है, इस डिस्पैच ने सिफ़ारिश की कि अँग्रेज़ी न केवल वहाँ पढ़ाई जाए जहाँ उसकी माँग की जा रही हो, बल्कि देशी भाषाओं के साथ भी उसे पढ़ाया जाना चाहिए। इसी के परिणामस्वरूप अँग्रेज़ी भारत में प्रशासन की भाषा के रूप में स्थापित हो गई। अँग्रेज़ी बोलने वाले स्नातकों को पैदा करना ज़रूरी हो गया ताकि वे प्रशासन के कारकुन बन सकें।

वुड्स डिस्पैच ने औपनिवेशिक शिक्षा-प्रणाली को जो संस्थागत स्वरूप दिया, वह बहुत दीर्घजीवी साबित हुआ। एक तरह से यह स्वरूप **स्वातंत्र्योत्तर** भारत में भी जारी रहा। कृष्ण कुमार ने इस संस्थागत स्वरूप के पाँच पहलुओं को चिह्नित किया है : हर स्तर पर शिक्षा के सभी पहलुओं पर नौकरशाही का नियंत्रण, भारत की नई पीढ़ी को युरोपीय मनोवृत्ति और नज़रिए के मुताबिक़ ढालते हुए उसे औपनिवेशिक प्रशासन के मुख्यतौर पर मध्य और निचले स्तरों पर काम करने लायक़ कौशलों से सम्पन्न करना, इस तरह के प्रशिक्षण के लिए अँग्रेज़ी की पढ़ाई और अँग्रेज़ी का पढ़ाई के माध्यम के रूप में इस्तेमाल करना, केवल उन्हीं स्कूलों को सरकारी सहायता मुहैया कराना जो सरकार

78. वुड्स डिस्पैच के सम्पूर्ण पाठ के लिए देखें, हृदय कांत दीवान वग़ैरह (2017), वही : 312-347।

द्वारा तयशुदा पाठ्यक्रम और पुस्तकों का इस्तेमाल करने के लिए तैयार हों, और एक केन्द्रीकृत परीक्षा प्रणाली के ज़रिए छात्रों को पास या फ़ेल करने या वजीफ़ा देने के बारे में फ़ैसला लेना।[79]

इस रपट की सिफ़ारिशों के मुताबिक़ अँग्रेज़ों ने भारत में एक शिक्षा विभाग गठित किया, लंदन विश्वविद्यालय की तर्ज़ पर युनिवर्सिटीज़ खोली गईं। शिक्षा विभाग ने तत्परता से काम करते हुए देशी भाषाओं में शिक्षा देने वाले ग्रामीण स्कूलों को हड़प कर अपने केन्द्रीकृत बन्दोबस्त के तहत लेना शुरू किया ताकि भाषा देशी होने के बावजूद विद्या पश्चिमी रहने की गारंटी की जा सके। दूसरी तरफ़ सिपाही विद्रोह के वर्ष यानी 1857 में बंबई, मद्रास और कलकत्ता में विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई। बाद में इलाहाबाद विश्वविद्यालय बना (1904 में भारतीय विश्वविद्यालय क़ानून बना और 1913 से 1947 के बीच देश में 16 नए विश्वविद्यालय और स्थापित हुए। इस तरह उच्च-शिक्षा के अँग्रेज़ी प्रधान स्वरूप को संस्थागत ऊँचाइयाँ मिलीं।)।

1882 में लॉर्ड कैनिंग ने विलियम हंटर की अध्यक्षता में एक आयोग गठित किया जिसे वुड्स डिस्पैच के क्रियान्वयन की जाँच करनी थी। हंटर आयोग ने वुड के सुझावों की पूरी संस्तुति की, और कहा जाता है कि इसने पिछड़े वर्गों, स्त्रियों, मुसलमानों और आदिवासियों की शिक्षा सम्बन्धी आवश्यकताओं की तरफ़ ध्यान दिया।

इसके बाद कर्ज़न द्वारा आयोजित शिमला में पन्द्रह दिन तक चलने वाले कथित रूप से 'गुप्त सम्मेलन' के आधार पर 1902 का विश्वविद्यालय आयोग गठित हुआ और 1904 का भारतीय शिक्षा अधिनियम पारित किया गया। 1917 में माइकिल सैडलर की अध्यक्षता में एक आयोग बना जिसने कलकत्ता विश्वविद्यालय की पाठ्यचर्या का अध्ययन करके कुछ सुधारों की पेशकश की। 1919 के भारत सरकार अधिनियम द्वारा अँग्रेज़ों ने शिक्षा का उत्तरदायित्व प्रान्तीय सरकारों को सौंप दिया। इसके बाद प्रान्तीय सरकारें केन्द्र द्वारा पर्याप्त आर्थिक मदद न मिलने के कारण लगातार अपने शिक्षा सम्बन्धी दायित्वों के निर्वहन में चूकती रहीं।

1854 के वुड्स डिस्पैच से 1947 तक के इस घटनाक्रम के भारतीय अध्येतागण अकसर इस बात पर ज़ोर देते देखे जाते हैं कि वुड की सिफ़ारिशें अपने चरित्र में सेकुलर थीं, और उनके कारण औपनिवेशिक शिक्षा के ढाँचे के सेकुलर तत्त्व मज़बूत हुए। हंटर आयोग को यह श्रेय दिया जाता है कि उसने समाज में निचले तबक़ों तक शिक्षा के प्रसार की तरफ़ ध्यान दिया। इन दोनों प्रेक्षणों में पारम्परिक भारतीय शिक्षा की यह आलोचना भी निहित है कि अँग्रेज़ों द्वारा स्थापित अँग्रेज़ी प्रधान शिक्षा व्यवस्था से पहले की शिक्षा सेकुलर नहीं थी और न ही वह आम लोगों या निचले तबक़ों की शिक्षा में दिलचस्पी रखती थी।

ऊपर दिए गए विवरण में हम देख चुके हैं कि पारम्परिक भारतीय शिक्षा व्यवस्था पर लगाया जाने वाला यह आरोप उस तरह से सही नहीं था जिस तरह से उसका प्रचार किया जाता है। पारम्परिक शिक्षा की आलोचना की जा सकती है, लेकिन उसे करने के लिए उस सेकुलरवाद, उदारतावाद और समतामूलकता के थमाए गए सिद्धान्तशास्त्र से परे जाना होगा जिसने पश्चिमी सामाजिक सिद्धान्त और अँग्रेज़ी शिक्षा को एक अनैतिहासिक आभा से मढ़ रखा है।

अभय कुमार दुबे वरिष्ठ पत्रकार एवं समाज विश्लेषक हैं। विगत दो दशक से विकासशील समाज अध्ययन पीठ (सी एस डी एस) दिल्ली में प्रोफ़ेसर हैं, भारतीय भाषा कार्यक्रम के निदेशक हैं एवं हिन्दी शोध पत्रिका *प्रतिमान* के सम्पादक हैं।

सम्पर्क : abhaydubey@csds.in

79. देखें, कृष्ण कुमार (1998), 'पाठ्यपुस्तकें और शैक्षिक संस्कृति', *शैक्षिक ज्ञान और वर्चस्व : शिक्षाशास्त्र के नए क्षितिज,* ग्रन्थशिल्पी, नई दिल्ली : 86।